SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत महापुराण में कर्म–सिद्धान्त

कुमारी निकिता, शोधार्थी, वेद– विभाग
श्री लाल बहादुर राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, दिल्ली, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Author
कुमारी निकिता, शोधार्थी
E-mail : kumariankit7070@gmail.com

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 17/01/2025
Revised on : 18/03/2025
Accepted on : 27/03/2025
Overall Similarity : 00% on 19/03/2025

शोध सार

श्रीमद्भागवत महापुराण एवं श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय शास्त्रों की आधारशिला है। सनातन शास्त्रों में इन दोनों को मुख्य स्थान प्राप्त है, क्योंकि ये कर्मयोग के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। भगवान् श्री कृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं कि कर्मों में कुशलता ही योग है। यह कर्म योग हम सब मानवों के लिए बहुत महत्त्व रखता है, क्योंकि हमारे वर्णाश्रम धर्म में कर्म को विशेष स्थान दिया गया है। 'कर्म' शब्द 'कृ' धातु से निर्मित हुआ है, जिसका अर्थ होता है 'करना'। किसी भी परंपरा के अनुयायी को मोक्ष या ईश्वर प्राप्ति के लिए कुछ न कुछ कर्म करना ही होता है। वेदों के अनुसार ईश्वर प्राप्ति हेतु यज्ञ आदि सत्कर्मों का पालन आवश्यक है। गीता के अनुसार मनुष्य कर्म किए बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता है। कर्म प्रकृति का नियम है, जिसे टाला नहीं जा सकता। इसलिए व्यक्ति को अपने कर्तव्यों का पालन निष्ठापूर्वक और निःस्वार्थ भाव से करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं – कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। अर्थात् कर्म करना मनुष्य का अधिकार है लेकिन उसके फल की इच्छा करना उचित नहीं। व्यक्ति को चाहिए कि वह निष्काम भाव से कर्म करता रहे, ताकि वह कर्म–बंधन से मुक्त रह सके। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म हेतु स्वधर्म का पालन करना आवश्यक बताया गया है लेकिन किसी भी कर्म का संचालन करने से पूर्व यह बात का स्मरण रखना होगा कि कर्मों का कर्त्ता मैं नहीं हूं।

मुख्य शब्द

श्रीकृष्ण, श्रीमद्भागवत गीता, श्रीमद्भागवत महापुराण, कर्म–सिद्धान्त.

सत् साहित्य में श्रीमद्भागवत पुराण एवं भगवद्गीता

का विशिष्ट स्थान है। भक्ति प्रधान होने पर भी इनमें पदे–पदे मानव को दिशा–निर्देश करने वाले कर्म सिद्धान्त विपुल संख्या में विद्यमान हैं। सम्पूर्ण संसार सुख और दुःखात्मक द्वन्द्वों से घिरा हुआ है। मनोनुकूल स्थिति से सुख की तथा प्रतिकूल परिस्थिति से दुःख की अनुभूति होती है। जन्म–जन्मान्तरों से चली आ रही वासना ने मन में घर बना लिया है। वासना के कारण सांसारिक भोगों के प्रति मन के आकर्षण का नाम ही राग है और राग का प्रतिद्वन्दी–भाव द्वेष है। चित्त का राग–द्वेष से रहित होकर कर्मपथ का मार्गानुसरण करना दुष्कर कार्य है। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं:

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।[1]

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भागवत में कहते हैं कि प्राणी अपने कर्म के अनुसार ही पैदा होता है और कर्म से ही मर जाता है। प्राणी को कर्म के अनुसार ही सुःख–दुःख, भय और मङ्गल के निमित्तों की प्राप्ति होती है:

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते।।[2]

इत्यादि आर्य वचनों से स्पष्ट होता है कि प्राणी की उत्पत्ति कर्म से ही होती है और कर्म के कारण ही नष्ट हो जाता है तथा कर्म करने से ही सुःख–दुःख, भय–सुरक्षा जैसी परिस्थितियां उनके जीवन में आती–जाती रहती हैं। श्रीमद्भागवत में प्रतिपादित कर्म–सिद्धान्त किसी जाति, वर्ण, वर्ग, संप्रदाय से संबंद्ध न होकर जन–सामान्य का मार्गदर्शन कराने वाले हैं, यथाः

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभायस्मृतः।।
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः।।[3]

धर्मपूर्वक कर्म का उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है, अर्थप्राप्ति नहीं। अर्थोपार्जन का लक्ष्य धर्मसाधन है, कामपूर्ति नहीं, कामपूर्ति का लक्ष्य जीवनसाधन है इन्द्रिय–तृप्ति नहीं, जीव का लक्ष्य तत्त्वज्ञ है स्वार्थ पूर्ति नहीं। समाज में स्वामी सेवक–भाव की प्रतिष्ठा अनादिकाल से चली आ रही है। इस भाव के आदर्श वचन श्रीमद्भागवत में यत्र–तत्र विद्यमान है। भगवान् नृसिंह और भक्त प्रह्लाद में भगवद्भाव तो है ही, स्वामी सेवक–भाव भी विद्यमान है। भगवान् के यह कहने पर कि प्रह्लाद मैं मनुष्यों की कामनाओं को पूर्ण करने वाला हूं और तुमसे बहुत प्रसन्न हूं, मुझसे वरदान मांगो। भक्त प्रह्लाद कहते हैं:

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः।।[4]

अर्थात् हे प्रभो! वह नौकर नौकर नहीं जो स्वामी से अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है; और वो स्वामी स्वामी नहीं जो सेवक से सेवा कराने के लिए, उसका स्वामी बनने के लिए उसकी इच्छाएं पूर्ण करता है। प्रह्लाद पुनः कहते हैं:

विमुञ्चति यदा कामान्मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते।।[5]

अर्थात् मनुष्य जब मन में रहने वाली सभी कामनाओं का त्याग कर देता है तभी उसे भगवान् की भगवत्ता प्राप्त होती है। भागवत प्रतिपादित कर्म–सिद्धान्त समाज को स्वाभिमानी बनने की शिक्षा देता है। पिता की सेवा शुश्रूषा तथा आज्ञापालन जैसे श्रेष्ठ कर्म का निर्देश भी श्रीमद्भागवत में यत्र–तत्र हुआ है। पुत्र की उत्तम, मध्यम, अधम तथा निकृष्ट कोटियों का वर्गीकरण करते हुए महाराज पूरु कह रहे हैं कि उत्तम पुत्र पिता के चिन्तित मात्र विषय की

पूर्ति करता है। पिता के आदेश के पालन करने वाला मध्यम कोटि का पुत्र है। श्रद्धा त्यागकर आज्ञा पालन न करने वाला पिता का मल–मूत्र मात्र है:

उत्तमश्चचिन्तितं कुर्यात् प्रोक्ताकारी तु मध्यमः।
अधमोऽश्रद्धयाकुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः।।[6]

इक्ष्वाकु कुलभूषण मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम आज भी स्मरण किये जाते हैं, क्योंकि वे पिता की आज्ञा से राज्य का त्याग कर के वन चले गये थे। श्री शुकदेवजी कहते हैं:

गुर्वथे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं पद्मपद्भयां प्रियायाः
पाणिस्पर्शात्क्षमाभ्यां मृजितपथरुजो यो हरीन्द्रानुजाभ्याम्।
वैरूप्याच्छूर्पणख्यारूप्रियविरहरुषाऽऽरोपितभ्रूविजृम्भर्बद्ध–
सेतु खलदवदहनः कोशलेन्द्रोऽवतान्नः।।[7]

पिता की आज्ञा मानकर मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने अपने पिता के सत्य की रक्षा के लिए राजपाट छोड़ दिया और वन–वन नंगे पैरों परिभ्रमण किया। विश्व–कल्याण की कामना करने वाले भगवान् वेदव्यास को पुण्यभूमि भारत की विशिष्टता का निरन्तर ध्यान बना रहता है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं:

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत्।
गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेरू कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति।।[8]

इस सप्तद्विपा धरित्री के सभी द्वीपों के सभी वर्षों में यह भारत बहुत पुण्यशाली है। यहां के निवासी भगवान् हरि के मङ्गलमय अवतार चरित्रों का गान करते रहते हैं, इतना ही नहीं देवता लोग तो आश्चर्य के साथ कहते हैं कि इन प्राणियों ने कोई बहुत शुभ कर्म किये हैं अथवा स्वयं भगवान् इनसे प्रसन्न हैं जो इन्हें स्वयं भारतवर्ष में जन्म– सौभाग्य मिल गया, जहां इन्हें भगवान् के सेवारूपी कर्म का अवसर मिल रहा है। हमारी भी उत्कृष्ट अभिलाषा है कि हमें भी भारतभूमि में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हो। कर्म की महिमा श्रीमद्भागवत एवं भगवद्गीता में अनेक कथाओं एवं उपदेशों के माध्यम से वर्णित है। शायद ही ऐसा कोई आख्यान या ऐतिह्य वृत्त होगा, जो कर्म की महिमा से मण्डित न हो। कर्म को 'निःश्रेयस' की प्राप्ति का साधन बताया गया। जगद्गुरु श्रीकृष्ण विद्या प्राप्ति के श्रेष्ठतम साधन का उपदेश करते हुवे कहते हैं:

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।[9]

विशिष्ट ज्ञान को गुरु के पास जाकर समझने का प्रयत्न करना चाहिए, उनके प्रति पूर्ण–रूप से शरणागत होकर सेवा करके विनीत–भाव से जिज्ञासा करने पर वे तत्त्वदर्शी ब्रह्म–ज्ञानी महात्मा तत्त्व–ज्ञान का उपदेश करते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण में नवधा भक्ति का भी उपदेश किया गया है। प्रह्लाद उवाचः

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।[10]

भगवान् के कथाओं का श्रवण, कीर्तन, उनके समान आदि नामों का स्मरण, चरणों की सेवा, पूजा–अर्चना, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन यदि परमात्मा के प्रति त्याग भाव से उपरोक्त नवों प्रकार की भक्ति की जाय, तो मैं उसी को उत्तम अध्ययन समझता हूं:

एवं संदर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे।।11

सुकर्म कभी निष्फल नहीं होता जो व्यक्ति निःस्वार्थ भाव से सेवा करता है उसे सुन्दर फल अवश्य प्राप्त होता है। ''शास्यते अनेनेति शास्त्रम्'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो मानवों को शासित–अनुशासित करता है वह शास्त्र कहलाता है।

मानव का धर्म है – जगत् में जितने प्राणी हैं, उन सभी की जीवन यात्रा सुविधा जैसे चले,ऐसा लक्ष्य निर्धारित कर जो धर्म वेदादि शास्त्र में निहित हैं। उनके आचरण से अपना और जनसमुदाय का भला करने का प्रयास करता रहे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, परोपकार सेवा कर्म आदि मानवजाति मात्र आदि के सामान्य धर्म है। सेवा की समानार्थक धर्म शुश्रूषा हैं। अमरकोष के अनुसार सेवा के चार नाम है वरिवश्या, शुश्रूषा, परिचर्या और उपासनाः

वरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्याप्युपासना।[12]

स्मृति वाङ्मय में सेवाधर्म की महिमा विस्तारपूर्वक वर्णित है। मनुस्मृति में वृद्धों की सेवा तथा अभिवादनशीलता को पवित्रतम धर्म की संज्ञा दी गई हैः

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्।।[13]

भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार कर्मों में कुशलता का नाम योग हैः *योगः कर्मसु कौशलम्।*[14] कर्म योग कर्म प्रधान जीवन को महत्त्व देता है। हमारे वर्णाश्रम धर्म में 'कर्म' का विशेष महत्त्व बताया गया है। 'कर्म' शब्द 'कृ' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय लगकर बना है। किसी भी धर्म का मनुष्य हो, उसे ईश्वरत्त्व–प्राप्ति हेतु कुछ न कुछ कर्म करना ही पड़ता है। वैदिक धर्म के अनुसार ईश्वर की प्राप्ति के लिए यागादि सत्कर्मों का निरूपण किया गया है। मनुष्य जो भी कर्म करता है वो सब सुख–प्राप्ति (स्वर्ग–प्राप्ति) के लिए करता है अथवा मोक्ष–प्राप्ति के लिए करता है और इसका साधनीभूत कर्म याग–कर्म है। शास्त्र कहते हैं कि जो मनुष्य जैसा कर्म करेगा वो वैसा ही फल पायेगा। जो मनुष्य कर्मों के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करता है, उसे जीवन के लगभग क्षेत्रों में सफलता प्राप्त होती है। ऐसे में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति का वर्तमान एवं भविष्य उसके कर्म के आधार पर ही तय होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैंः

न हि कश्चित्क्षमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।[15]

इस श्लोक में कर्म के महत्त्व को दर्शाया गया है। श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कोई भी मनुष्य क्षणभर के लिए भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता है। ऐसे में कर्म करना ही प्रकृति का नियम है इसको त्यागा नहीं जा सकता है। मनुष्य हाथ–पाँव नहीं भी चलाये,तो भी वह मन और बुद्धि से क्रियाशील रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन को अकर्मण्य न रहने की सलह देते हैंः

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।[16]

श्रीकृष्ण कहते हैं कि बिना कर्म के जीवन संभव ही नहीं है। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार मनुष्य को अपने कर्म का निर्वाह अवश्य करना चाहिएः

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितम्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।[17]

अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं कि यदि मनुष्य कर्म करेगा तब उन कर्मों के फल भी होंगे जो उस मनुष्य को सुखी एवं दुःखी करते रहेंगे फिर तो मनुष्य कर्मों के बन्धन में फंसकर जन्म–मरण के चक्र से कभी मुक्त ही नहीं हो पायेगा। श्रीकृष्ण अर्जुन की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहते है कि हां यह बात सत्य है कि कर्म होगा तो उन कर्मों के फल भी उत्पन्न होंगे परन्तु ये कर्मफल उन्हीं मनुष्यों को प्रभावित करते है जो आसक्तिपूर्वक अथवा फल के लोभ से कर्मों का संपादन करते हैं। जो मनुष्य अनासक्तभाव से तथा बिना फल की इच्छा किये कर्म करते हैं उन कर्मों के फल उस मनुष्य को बांध नहीं पाते हैं और इस प्रकार कर्म करते हुए भी मनुष्य कर्मफलों के बंधन से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं मुझे ही देख लो अनवरत कर्म करता हूं परन्तु मेरे द्वारा संपादित ये कर्म मुझे बंधन में नहीं डालते, क्योंकि मैं निष्काम भाव से इन कर्मों को करता हूं। सकाम भाव से एवं कर्तापन के अभिमान से संपादित किए गए कर्म ही उस कर्ता मनुष्य बंधन में डालते हैं अन्यथा निष्कामभाव तथा कर्त्तापन के

अभिमान से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य कर्त्ता होकर भी अकर्त्ता ही रहता है और ऐसे मनुष्य को कर्म के बंधन अपने जकड़ नहीं पाते हैं। जैसे भुने हुए बीज अंकुर उत्पन्न नहीं करते हैं, वैसे ही निष्काम भाव से किये गए कर्मों के फल मनुष्य को अपने बंधन में नहीं जकड़ते हैं।

बिना फल की इच्छा किये हुए कर्म का संपादन करना चाहिए। सम्पूर्ण किये गये कर्म ईश्वर को अर्पण कर देना चाहिए अर्थात् कर्म करते समय ईश्वर से जुड़े रहना चाहिए। इतना ही नहीं अच्छे, बुरे, पूरे, अधूरे कर्मों के प्रति सम रहना चाहिये। ऐसा मनुष्य योग में स्थित होता है। इसी को श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण स्थितप्रज्ञ की संज्ञा देते हैं। दुख–सुख में समभाव एवं आत्मसंतुष्ट, एकदश इन्द्रियों पर पूर्णरूप से नियंत्रण और अहंकार रहित होना चाहिएः

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य पज्ञा प्रतिष्ठित।।[18]

भागवत एवं गीता में वर्णित निष्काम कर्म को जानकर उसे अपने जीवन में धारण करने से समस्याओं का निराकरण हो सकता है जो आज के इस युग में युद्ध अथवा कोलाहल का मुख्य कारण है। इस दुःखद स्थिति में यदि मनुष्य निष्काम भाव से कर्मयोग को अपने जीवन में ला सके, तत्त्व को समझ सके, वर्णधर्म, तप, दान, परोपकार इत्यादि कर्म करने लगे, पूरी लगन और मेहनत से शास्त्रों में बताये गये धर्म के मार्ग पर या निहित कर्मों को निःस्वार्थ भाव से करे, तो वह उसी समय से परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व के लिए एक योग्य समाज–सुधारक एवं नेता के रूप में प्रतिष्ठित हो जायेगा।

गीता में कर्म शब्द का अर्थ बहुत ही व्यापक रूप में लिया गया है। मनुष्य जो कुछ भी करता है, यथा – सोना, जागना, लड़ना, मनन, ध्यान करना, आज्ञा या निषेध करना, दान देना, यज्ञ–याग करना, खेती करना, व्यापार धंधा करना, निश्चय करना, मौन रहना, खाना, पीना, खेलना, उठना, बैठना, श्वास लेना और छोड़ना, सूंघना, बोलना, सुनना, चलना इत्यादि – ये सारे कर्म श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार अनुसार ही है चाहे वे कर्म वाचिक, कायिक या मानसिक हो और जीना–मरना भी कर्म ही है।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्यते तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।[19]

श्रीमद्भागवत महापुराण में बड़े ही सुन्दर ढंग से कर्मयोग के अधिकारी का वर्णन किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं जिनके चित्त में कर्मों तथा उनके फलों से आसक्ति दूर नहीं हुई है, वही व्यक्ति सकाम कर्म के योग्य हैः

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्।।[20]

भागवत के अनुसार कर्म के संबंध में जितने भी विधि–निषेध हैं, उनके अनुसार कर्म तब–तक ही करना चाहिए, जब–तक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखों से वैराग्य न हो जाय अथवा जब–तक मेरी कथा के श्रवणादि में श्रद्धा प्राप्त न हो जायः

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।।[21]

इस तरह से अपने वर्णाश्रम में बताये गये धर्म में स्थित होकर सत्कर्मों द्वारा बिना किसी फल की प्राप्ति की आशा किये हुये मेरी आराधना करते रहो।

धर्मनिष्ठ मनुष्य इस संसार में रहते हुए शास्त्रों में विहित निषिद्ध कर्मों का परित्याग करके रागादि मलों से मुक्त होकर स्वच्छ हो जाता है, जिससे तुरन्त ही उसे आत्मसाक्षात्काररूप विशुद्ध तत्त्वज्ञानी होने पर भगवान् की भक्ति प्राप्त हो जाती है। मनुष्य को सदा कर्म करते रहना चाहिये, परन्तु कर्म के पीछे कोई कामना नहीं होनी चाहिये। फल की इच्छा से किया गया कार्य निष्काम कर्म नहीं कहलाता, इसलिये सकाम कर्म के शुरुआत से लेकर अन्त तक दुःख देखने को मिलता है। निष्काम कर्म के द्वारा ही परमात्मा की प्राप्ति सम्भव है और निष्काम करता हुआ मनुष्य जन्म–चक्र के बंधन से मनुष्य मुक्त हो जाता है। निष्काम भाव से किया गया कर्म ही स्वधर्म है। कर्म नहीं त्यागना चाहिए साथ ही कर्मफल की इच्छा न करके सत्कर्मों का ही आचरण करना चाहिए। यदि किसी कारणवश कार्य की सिद्धि न भी हो तो असंतोष होने का कोई वजह नहीं रह जायेगा। कर्म करने पर सिद्ध हुआ तो वह ठीक है और सिद्ध नहीं हुआ, तो भी सिद्ध हुआ ऐसा ईश्वर–इच्छा मान लेना चाहिए।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने स्वामी या मालिक के लिए कार्य करता है ठीक उसी तरह के भाव से मनुष्य को कर्म करते हुए सब–कुछ ईश्वर को अर्पण कर देना चाहिए है– जिस तरह से कमल का पर्ण जल में रहते हुए भी जल से लिप्त नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य कर्म करते हुए किसी प्रकार के पाप–पुण्य से संलिप्त नहीं होता हैः

ब्रह्मण्याध्याय कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।[22]

मानव–जीवन का मुख्य आधार कर्म है। मोक्षरूप कल्याणजनक लक्ष्य को पाने हेतु अलग–अलग पथों पर अलग–अलग प्रवृत्तियों सह कर्म का आरंभ करना पड़ता है। मंगल अमंगल सम्पूर्ण कर्मों को चित्त से हटाकर कर्मों में अकर्म–दर्शनरूप विवेकबुद्धि के द्वारा त्यागकर मनुष्य ईश्वर की भक्ति में सुखपूर्वक स्थित हो जाता हैः

सर्वकर्माणि मनसा सन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।[23]

सम्पूर्ण संसार कर्म में बंधा हुआ है इसलिए कर्म सिद्धान्तों का विस्तार अधिक है और समझने में थोड़ी कठिनाईयां आती हैं। ऐसा उपदेश करने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म करते हुये ईश्वर को प्राप्त करने को कहते हैं।

निष्कर्ष

कर्मयोग सिखाता है कि कर्म के लिए कर्म करो, आसक्तिरहित होकर कर्म करो। कर्मयोगी इसलिए कर्म करता है कि कर्म करना उसका कर्त्तव्य है और इसके परे उसका कोई हेतु नहीं है। कर्मयोगी कर्म का त्याग नहीं करता। वह केवल कर्मफल का त्याग करता है और कर्मजनित दुःखों से मुक्त हो जाता है। उसकी स्थिति इस संसार में एक दाता के समान है और वह कुछ पाने की कभी चिन्ता नहीं करता। वह जानता है कि वह दे रहा है और बदले में कुछ माँगता नहीं इसीलिए वह दुःख के पकड़ में नहीं आता। वह जानता है कि दुःख का बन्धन 'आसक्ति' की प्रतिक्रिया का ही फल होता है। श्रीमद्भागवत महापुराण और श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि मन का समत्व भाव ही योग है जिसमें मनुष्य सुख–दुःख, लाभ–हानि, जय–पराजय, संयोग–वियोग को समान भाव से चित्त में ग्रहण करता है। कर्म–फल का त्याग कर धर्मनिरपेक्ष कार्य का सम्पादन भी पूजा के समान हो जाता है। संसार का कोई कार्य ब्रह्म से अलग नहीं है इसलिए कार्य की प्रकृति कोई भी हो निष्काम कर्म सदा ईश्वर को ही समर्पित हो जाता है। पुनर्जन्म का कारण वासनाओं या अतृप्त कामनाओं का संचय है। कर्मयोगी कर्मफल के चक्कर में ही नहीं पड़ता, अतः वासनाओं का संचय भी नहीं होता। इस प्रकार कर्मयोगी पुर्नजन्म के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। अतः यज्ञ, दान, तपादि, प्रशस्त श्रेष्ठ एवं श्रेष्ठतम पवित्र कर्मों का आश्रय मनुष्य को लेना चाहिये, प्रशस्त कर्मों का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए।

सन्दर्भ सूची

1. श्रीमद्भगवद्गीता – 2/64।
2. श्रीमद्भागवत महापुराण – 10/24/13।
3. वही – 1/2/9–10।
4. वही – 7/10/5।
5. श्रीमद्भागवत – 9/18/44।
6. श्रीमद्भागवत – 9/18/44।
7. श्रीमद्भागवत – 9/10/4।
8. श्रीमद्भागवत– 5/6/13।
9. श्रीमद्भग्वद्गीता– 4/34।
10. श्रीमद्भागवत – 7/5/23।
11. श्रीमद्भागवत –10/9/19।
12. अमरकोश – 2/4/35।
13. मनुस्मृति – 2/121।
14. श्रीमद्भगवद्गीता – 2/50।
15. वही – 3/5।
16. वही – 2/47।
17. वही – 3/35।
18. श्रीमद्भगवद्गीता – 2/56–57।
19. श्रीमद्भगवद्गीता – 5/8–9।
20. श्रीमद्भागवत महापुराण – 11/20/7।
21. श्रीमद्भागवत महापुराण –11/20/9।
22. श्रीमद्भगवद्गीता – 5/10।
23. वही – 5/13।
24. वात्स्यायन ब्रह्मदत्त, (2016) *गीता–ज्ञान,* वी.एंड एस. पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
25. पितले, रमाकांत; राव, लक्ष्मण; त्रेहन, दिनेश कुमार (1925) *गीता – ज्ञानेश्वरी,* शिप्रा पब्लिकेशन, प्रयागराज।
26. मिश्र, शिवशंकर (2008) *भारतीय चिन्तन परंपरा में गीता,* ईस्टर्न बुक लिंकर्स, प्रथम संस्करण, प्रयागराज।
27. भिक्षु, परमंहस रामेश्वर (1930) *महोपाध्यायलौगाक्षिभास्करप्रणीत अर्थसंग्रह,* निर्णयसागर, मुम्बई।
28. तिलक, लोकमान्य बाल गंगाधर (2008) *गीतारहस्य, भाग –01, कर्मयोगशास्त्र,* अर्चना पब्लिकेशन, दिल्ली।
29. श्रीमद्भागवत महापुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर –273005, एक सौ बारहवां पुनर्मुद्रण, 2024।

****